यह व्याख्यान पाठ्यपुस्तकों पर चलने वाली बहस एवं निर्माण प्रक्रिया के संदर्भ में मीडिया एवं राजनीति की भूमिका की व्यापक संदर्भों में पड़ताल करता है और बताता है कि यह बहस पूर्णत: पूर्व-निर्धारित मानदण्डों एवं आत्म-प्रतिनिधित्व के सवालों पर ही केन्द्रित रहती है। इस बहस में बच्चों की क्षमताओं, सीखने की प्रक्रिया एवं रुचियों तथा शिक्षक की हैसियत और उनके विकसित होने के अवसरों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। साथ ही कहा गया है कि हमें इस पर विचार करना चाहिए कि पाठ्यपुस्तकें हमारा किस प्रकार का राजनैतिक सामाजीकरण करती हैं, इनसे राष्ट्र एवं समाज की कैसी कल्पना बनती है ? इस सब पर बहस के बजाए पाठ्यपुस्तकें बच्चों को 'अनुशासित' करने एवं उनके 'चरित्र निर्माण' को संबोधित होती हैं।

प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल एनसीईआरटी की हिन्दी की पूर्व पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा एवं राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रुपरेखा 2005 के अनुरूप हिन्दी की नई पाठ्यपुस्तकों के निर्माण से जुड़े हैं। ये पुस्तकें - कक्षा 1,3,6,9,11 - अप्रैल, 2006 से लागू हो चुकी हैं और शेष कक्षाओं की अप्रैल, 2007 से लागू होंगी।

बच्चे, पाठ्यपुस्तकें और राजनीति

❑ प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल

सच्चे मन से आप लोगों का, दिगन्तर का, रोहित जी का, विश्वंभर जी का, राजाराम जी का आभार प्रकट करता हूं कि इस महत्त्वपूर्ण प्रयोग का जिसको हम दिगन्तर के नाम से जानते हैं, एक छोटा-सा हिस्सा बनने का अवसर आपने दिया। मैं इसके लिए आप लोगों का आभारी हूं। सचमुच, मैं पहली बार दिगन्तर आया हूं। मुझे और जमाल, दोनों को पहले तो अटपटा लगा, फिर चकित हुए, फिर प्रसन्न हुए कि हम लोग किसी अलग-सी जगह पर जा रहे हैं। मैं आज तक कभी शान्तिनिकेतन नहीं गया हूं। लेकिन मैंने जमाल से कहा कि मेरा अनुमान है कुछ-कुछ ऐसा ही होगा, ऐसा ही अनौपचारिक वातावरण, बिना किसी पर्यावरणवाद के। बिना किसी एन्वायरमेन्टलिस्ट स्टेटमेंट के सहज रूप से अपने परिवेश और पर्यावरण से जुड़ी हुई ये संस्था, इसमें आने का मुझे मौका मिला। यह संभवत: मेरे जीवन का पहला व्याख्यान है जो मैं किसी छोटे-से, आत्मीय-से घर की छत पर बैठकर दे रहा हूं। वरना व्याख्यान के साथ जो ताम-झाम जुड़ा होता है, मैं आपसे स्वीकार करूं कि मैं उसी की उम्मीद लेकर आया था और मैं उसी की तरह तैयारी करके भी आया था। मुझे लगा कि लम्बा-सा हॉल होगा और मुझे बहुत खुशी है कि वैसा कुछ नहीं है और हम लोग यहां छत पर बैठकर बहुत इत्मिनान से बात कर रहे हैं। इस अनुभव का हिस्सा मैं बन सका इसके लिए मैं आप लोगों का आभारी हूं। मेरे बारे में राजाराम जी ने बहुत कृपापूर्ण बातें कहीं और मुझे सुनकर अच्छा लगा क्योंकि आमतौर से ये मुझसे बात करते हैं तो मेरी तारीफ बहुत कम करते हैं, मेरी खिंचाई ज्यादा करते हैं। इसलिए अच्छा लगा कि इनके मन में मेरे लिए कुछ तारीफ भी है और मुझे यह जानकर के मजा आया कि मेरी विदेश यात्राएं मित्रों के बीच चर्चा का विषय हैं। उसमें एक थोड़ी-सी भूल सुधार कर दूं, असल में हर महीने नहीं, मैं लगभग हर साल विदेश जाता हूं। हर महीने की दशा अभी मुझे प्राप्त नहीं हुई है। लेकिन जो आपने कहा उसके लिए धन्यवाद। और तीसरी बात यह मित्रो कि, शिक्षा से आप लोगों का संबंध विशेषज्ञों का है या उसके प्रयोग करने वालों का है। मैं बिना किसी विनम्रता का नाटक किए पूरी ईमानदारी से यह कहना चाहता हूं कि शिक्षा से मेरा संबंध केवल शिक्षार्थी का है। आप लोगों के सामने बैठकर मैं अपने आपको एक बहुत ही विनम्र विद्यार्थी की तरह महसूस कर रहा हूं। मैं आपके सामने जो बात करने जा रहा हूं उसे औपचारिक रूप से व्याख्यान भले ही कहा जाए, मैं अपने मन में ऐसा मानकर चलता हूं, जैसा प्राचीन विश्वविद्यालयों में होता था। कहा जाता है कि नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने की इच्छा से जब आप नालन्दा पहुंचते थे तो दरवाजे पर ही एक आचार्य बैठे रहते थे। वे आपसे कुछ सवाल पूछते थे। अगर उनके सवालों का आप जवाब नहीं दे पाएं तो आपकी गाड़ी, या घोड़ागाड़ी या जिस भी वाहन पर आप बैठे हों, उस वाहन को वहीं से लौटा दिया जाता था। आप इसमें घुसने लायक नहीं हैं अगर आप उनके सवालों का जवाब नहीं दे सके। और जब उनके सवालों के जवाब आप दे लेते थे तो आगे

किसी जगह पर दस-पांच आचार्य एक साथ बैठे होते थे और वे आपसे सवाल जवाब करते थे और उनको अगर आप सन्तुष्ट कर दें तो फिर आगे चलिए और फिर प्रवेश की जो भी औपचारिकताएं हों, फार्म-वार्म जो भी भरना हो भरिए वर्ना वहीं से लौट जाइए। तो शिक्षा के इतने विशेषज्ञों के सामने और इतने प्रेक्टिशनर्स के सामने मैं अपने आपको एक ऐसे विद्यार्थी के रूप में ही देख पा रहा हूं जो बहुत विनम्रता पूर्वक अपने कुछ इंप्रेशंस, जिज्ञासाएं हैं, उनसे जुड़े जो सवाल हैं, वो रखने की कोशिश करेगा और आपसे सीखना चाहेगा; आपके अनुभवों से, आपके ज्ञान से, आपके विश्लेषणों से।

जैसा मैंने आपसे कहा कि मुख्य रूप से मेरे मन में जो सवाल उठते हैं उन्हीं को इस विषय में बांधने की कोशिश की है। जब मुझे इस व्याख्यान के लिए रोहित जी ने दिल्ली में आमंत्रित किया और मुझे बताया कि विषय के बारे में विश्वंभर बात कर लेंगे। अभी चार-पांच सप्ताह पहले ही मेरी विश्वंभर जी से जयपुर में मुलाकात हुई और इन्होंने मुझे विषय सुझाया 'शिक्षा और आधुनिकता'। मुझे लगा कि यह विषय बहुत ही अस्पष्ट (वेग) है, बहुत अमूर्त-सा है, इसलिए मैंने आग्रह करके विषय बदल दिया और जो विषय रखा उसका एक कारण सीधा-सीधा यह है कि पिछले करीब 7-8 महीनों से मैं एनसीईआरटी के माध्यम से पाठ्यपुस्तकों की रचना, पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा से सीधे-सीधे जूझ रहा हूं। मुझे कहीं न कहीं यह लगा कि मैं इसके लिए अलग से तैयारी करने से बचूंगा। 'शिक्षा और आधुनिकता' जैसे भारी-भरकम विषय पर तैयारी करने के लिए काफी पढ़ना-वढ़ना पड़ेगा। आप जानते ही हैं कि पढ़ने से कामचोर विद्यार्थी आमतौर से जी चुराते हैं। जो कुछ मैं कर रहा हूं उसी पर बात करूंगा। जब मैं सोचने लगा तो एकाएक इस बात का अहसास मुझे हुआ कि असल में मैं विश्वंभर जी के सुझाए हुए विषय पर ही बोल रहा हूं। क्योंकि शिक्षा में पाठ्यपुस्तक की केन्द्रीयता एक नितांत आधुनिक परिघटना है। प्राक्-आधुनिक समाजों में शिक्षा उस तरह पाठ्यपुस्तक केन्द्रित नहीं थी जैसी कि वो आधुनिक समाजों में है। प्राक्-आधुनिक समाजों में, जो थोड़ी बहुत जानकारी मुझे है और जो मैंने प्राप्त करने की कोशिश की है, वो चाहे भारतीय समाज हों और चाहे भारत के बाहर के समाज हों; शिक्षा एक तरह से शिक्षक केन्द्रित थी। पाठ्यक्रम तब भी होते थे, आप लोग जानते हैं अलग से इन बातों को कहने की जरूरत नहीं है। बल्कि आप ही की व्याख्यान माला में प्रोमेश जी ने जो व्याख्यान दिया था वह इसी विषय पर था कि उपनिवेश काल (कॉलोनियल पीरियड) से पहले के बंगाल में पाठशालाओं में और टोलों में किस तरह की पढ़ाई होती थी और क्या पढ़ाया जाता था। पूरे पाठ्यक्रम थे उसके। बकायदा निश्चित चीजें थीं जो इस कक्षा में पढ़ाई जाएंगी, उसके बाद अगली चीजें दूसरी कक्षा में पढ़ाई जाएंगी। लेकिन संभवत: कोई निर्धारित और जिसकी सभी स्कूलों में पढ़ाए जाने की बंदिश हो, ऐसी पाठ्यपुस्तक नहीं होती थीं। मान लीजिए आपको एक खास दर्जे में न्याय पढ़ाया जाएगा, न्याय की फलां फलां अवधारणा आपको इस खास दर्जे में पढ़ानी हैं, वो अवधारणा किन माध्यमों से, किन उदाहरणों से और किन विद्वानों अथवा आचार्यों के पाठों के आधार पर पढ़ानी हैं यह न्याय पढ़ाने वाला पंडित खुद तय कर लेता था। आपको गणित पढ़ाना है तो गणित की फलां-फलां चीजें मोटे-मोटे तौर से आपको फलां जगह फलां साल में पढ़ा दी जानी हैं, कैसे पढ़ाई जानी हैं वो शिक्षक पर छोड़ते थे, समाज शिक्षक पर छोड़ता था। लेकिन आधुनिक व्यवस्था में पाठ्यपुस्तक केन्द्रीय हैं। इसलिए मैंने कहा कि एक तरह से जब हम पाठ्यपुस्तक पर बात कर रहे हैं, तो हम 'शिक्षा और आधुनिकता' पर ही बात कर रहे हैं। पाठ्यपुस्तक शिक्षा के आधुनिकीकरण का प्रमाण है और यहां आधुनिकीकरण शब्द का प्रयोग फिलहाल मैं बिना किसी मूल्य सापेक्षता (वैल्यू लोड) के कर रहा हूं। न मैं आधुनिकीकरण शब्द के प्रति कोई अवज्ञा प्रकट कर रहा हूं और न कोई अनावश्यक सम्मान प्रकट कर रहा हूं; लेकिन ये सही है कि पाठ्यपुस्तक इस व्यवस्था में, शिक्षा के इस चिंतन में केन्द्रीय हैं। और जो लोग आधुनिक शिक्षा व्यवस्था से असुविधा महसूस करते हैं उन्होंने इस चीज को अपने ढंग से नोट किया है और बहुत प्रसिद्ध कथन गांधी जी का है, मैं पढ़ना चाहता हूं आपके सामने, ''पाठ्यपुस्तकों को शिक्षण का माध्यम माना जाए तो शिक्षक की वाणी की शायद ही कोई कीमत रह जाए। जो शिक्षक पाठ्यपुस्तकों में से सिखाता है वह अपने विद्यार्थियों को स्वतंत्र और मौलिक विचार करने की शक्ति नहीं देता। इससे शिक्षक स्वयं पाठ्यपुस्तक का गुलाम बन जाता है और उसे अपना स्वतंत्र तेज दिखाने का मौका ही नहीं मिलता। इससे मालूम होता है कि पाठ्यपुस्तकें जितनी कम होंगी उतना ही शिक्षकों और विद्यार्थियों को लाभ होगा।'' संस्कृत शब्द आचार्य की व्युत्पत्ति ही यह मानी जाती है कि जो अपने आचरण से सिखाए। आचार्य वैसे तो एक डिग्री है जैसे हमारे यहां पोस्टग्रेजुएशन के बाद पीएचडी होती है। पारम्परिक शिक्षा प्रणाली में उपाध्याय के बाद आचार्य होता है। जहां शिक्षक

केन्द्र में है; वहां और उस शिक्षण व्यवस्था या उस शिक्षा दर्शन के अनुकूल जो अपने आपको पाते हैं जैसे गांधीजी, उनकी सोच में यह बात आती है कि महत्त्वपूर्ण शिक्षक है, पाठ्यपुस्तक तो इंसीडेंटल हैं। लेकिन जिस व्यवस्था के संदर्भ में हम लोग बात कर रहे हैं और जिस व्यवस्था से मुझ समेत हम सब लोग निकले हैं उसमें पाठ्यपुस्तक केन्द्रीय रही हैं, शिक्षक इंसीडेंटल।

हमारे देश में होने वाली शिक्षा संबंधी सारी बहसें, और पिछले बीस-पच्चीस साल से हमारा समाज शिक्षा पर बहुत बहसें कर रहा है; आप देखेंगे कि बहस का अधिकांश हिस्सा पाठ्यपुस्तक पर है। अभी मैं रोहित जी से इस कार्यक्रम से पहले बात कर रहा था और जानकारी प्राप्त करने की कोशिश कर रहा था, और जो मेरा अनुमान था वो रोहित जी जैसे जानकार व्यक्ति की बातों से भी पुष्ट हुआ कि, जहां तक शिक्षक का सवाल है, जहां तक शिक्षक की ट्रेनिंग का या शिक्षक को जांचने का, उसको परखने का और उसको अपने आपको विकसित करने का अवसर देने का सवाल है ये हमारे समाज के लिए, हमारे राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण चिन्ता का विषय अब रह नहीं गया है। पिछले साल एनसीईआरटी ने एक सेमीनार किया था और संभवत: वो पहला सेमीनार था जिसमें कि शिक्षाशास्त्रियों, शिक्षकों के साथ-साथ समाज चिंतकों, कार्यकर्ताओं, कलाकारों इत्यादि को बुलाया गया और अनुभवों के आदान-प्रदान एक दूसरे के साथ संभव हो सके। उसमें एक बात सामने आई, मध्यप्रदेश के एक शिक्षक ने कहा और इस बात की हम सब लोग तारीफ करते थे और अभी भी करते हैं कुछ लोग कि, मध्यप्रदेश में पंचायती राज के नाम पर सत्ता का बड़ा महत्त्वपूर्ण विकेन्द्रीकरण हुआ है; जिला सरकार, सरकार आपके द्वार आदि-आदि। ज्यादातर फैसले भोपाल की बजाए ग्वालियर या भिंड में स्वयं होंगे, भोपाल भागने की जरूरत नहीं है। एक वृद्ध शिक्षक थे उन्होंने कहा कि मध्यप्रदेश सरकार ने प्राइमरी स्कूल शिक्षक को डाइंग काडर घोषित कर दिया है। सरकार कोई नई नियुक्ति इस काडर में नहीं करती। जो भी नई नियुक्तियां होती हैं वो पंचायत करती है। पंचायत नियुक्तियां करती है इसका नतीजा यह है कि डाइंग काडर होने के बावजूद, मध्यप्रदेश सरकार का जो पब्लिक इंस्ट्रेक्शन डिपार्टमेंट है वो शिक्षकों पर अपना अधिकार फिर भी मानता है। उस बुजुर्ग शिक्षक ने कहा कि अभी तक हमारे आका केवल भोपाल में बैठते थे या जो जिला शिक्षा अधिकारी होता था वह हमारा आका होता था। आपके इस विकेन्द्रीकरण ने हमें *एक* नया आका दिया है और वह है गांव का सरपंच। उसके दबाव हमें रोज सुबह-शाम झेलने होते हैं और हम उसके प्रति भी जवाबदेह हैं। इस बात पर कम से कम मेरा ध्यान नहीं गया था। पंचायती राज व पंचायती राज की जो व्याख्या और जो व्यवहार मध्यप्रदेश की सरकार ने किया उसका शिक्षक पर और शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ सकता है या पड़ा होगा उसकी कल्पना मैंने नहीं की थी। तो हम लोग बात करते हैं पाठ्यपुस्तकों पर। कभी-कभी मुझे लगता है कि पाठ्यपुस्तकों से हमारा समाज ऑबसेस्ड हो गया है, बहुत से लोग सचमुच यह मानते हैं कि अगर पाठ्यपुस्तकों में उचित प्रकार के पाठ लग जाएं तो शिक्षा की आधी समस्याएं हल हो जाएंगी। मैं अपने निजी अनुभव से यह जानता हूं और मैं कुछ मिसालें आपके सामने पेश करूंगा और मेरी ये चुनौती है मित्रो, आपके सामने, एक विनम्र छात्र की चुनौती; इसको मानकर चलें आप, चूंकि यह शिक्षण संस्थान है इसलिए ये प्रयोग हम यहां कर सकते हैं। आप महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण, जनवादी से जनवादी, क्रान्तिकारी से क्रान्तिकारी कविता मुझे दीजिए, कहानी मुझे दीजिए, निबन्ध मुझे दीजिए और मैं उसकी ऐसी व्याख्या करके आपको अभी दिखा सकता हूं, आप लोगों को स्कूल के बच्चे मानते हुए कि उसका अर्थ सिर के बल खड़ा हो जाए, मैं अभी करके दिखा सकता हूं। आप मुझे कबीर दास से लेकर नागार्जुन तक और कालिदास से लेकर तुलसीदास तक किसी को भी पढ़ाने के लिए कह दीजिए, मैं उसे बहुत ही मान्य ढंग से, अत्यंत स्वीकार्य ढंग से भी पढ़ा सकता हूं। और जैसा अभी संकेत किया, उस ढंग से भी। इसलिए पाठ्यपुस्तकों और पाठ पर केन्द्रित जो शिक्षा चिन्तन है उसकी अपनी समस्याओं के प्रति थोड़ी बहुत संवेदनशीलता जरूरी है।

हम इस बात पर भी ध्यान दें इसी प्रसंग में कि, पाठ्यपुस्तकों पर होने वाला जो व्यापक विमर्श है और जिसमें जाहिर है कि मीडिया की बहुत निर्णायक भूमिका है, उसकी चिन्ताएं और उसकी दिलचस्पियां किस तरह की हैं? मैं इस समय एनसीईआरटी की हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों की सलाहकार समिति का मुख्य सलाहकार हूं। और चूंकि मैं इस पद पर हूं तो जो भी हिन्दी की पाठ्यपुस्तकें अब एनसीईआरटी में बन रही हैं जिनमें से कुछ इस सत्र से, अप्रैल से, लागू हो जाएंगी और बाकी अगले सत्र, अगले अप्रैल से, लागू हो जाएंगी। स्वाभाविक है कि उनके बारे में समाज में दिलचस्पी

हो, जिज्ञासा हो और मीडिया वाले भी पूछना चाहें, जानना चाहें। यह स्वाभाविक है, होना चाहिए । लेकिन ये जिज्ञासा और दिलचस्पी किस प्रकार की है और किस तरह की चीजों पर है? हमारी समिति ने छठी कक्षा की पाठ्यपुस्तक में सानिया मिर्जा पर एक साक्षात्कार लगाने की सिफारिश की। मीडिया के लिए यह सबसे बड़ी खबर थी। मैं तो इस मामले में काफी घबराता हूं, सरकारी काम में पहली बार फंसा हूं, मैं तो किसी से बात-बात करता नहीं, लेकिन मीडिया वाले, आप लोग जानते हैं कि आजकल मीडिया वाले जो कुछ आप नहीं बताना चाहें उसे भी पता लगा लेते हैं। तो एक नौजवान मेरे पास आए, एक अखबार के संवाददाता और उन्होंने मुझसे कहा कि आपने ऐसा कुछ किया है। मैंने कहा मुझे नहीं पता। बोले, नहीं मैं आपसे पूछ नहीं रहा हूं कि आपने ऐसा किया है, मैं आपको बता रहा हूं कि आपने ऐसा किया है और मैं इसपर आपकी राय जानना चाहता हूं कि आपने अगर किया है तो क्यों ? तो मैंने कहा कि जब आप मुझे बता ही रहे हैं तो मैं यह तो नहीं कह सकता कि आप झूठ बोल रहे हैं, आप सही कह रहे हैं कि हमने वो साक्षात्कार प्रस्तावित किया है और उसके हमारे कारण ये हैं। और मैंने उन्हें बताया कि केवल वही साक्षात्कार नहीं प्रस्तावित किया है, हम सातवीं कक्षा में मेजर ध्यानचंद की आत्मकथा का एक अंश लगाने जा रहे हैं और मैं फख्र के साथ यह कहना चाहता हूं कि उस आत्मकथा को इसी काम के लिए हमने खोज निकाला है और हम कृष्ण कुमार जी से निवेदन करने जा रहे हैं कि लुप्तप्राय: हो चुकी उस आत्मकथा को पुन: प्रकाशित करने का गौरव भी एनसीईआरटी को दिलवाएं। मैंने उनसे निवेदन किया कि हमने और भी बहुत-सी रोचक चीजें लगाई हैं । कुछ बड़े पाठ अभी तक लगते रहे हैं और लगने भी चाहिएं, मिसाल के तौर पर 'झांसी की रानी' प्रसिद्ध कविता और इस तरह के पाठ। उन पर हमने कुछ नए तरीके से सवाल बनवाने की कोशिश शिक्षक साथियों की मदद से की है। मैंने कहा कि ये सब चीजें भी अगर आप अपनी रिपोर्ट में हाइलाइट करें तो बातचीत ठीक-ठाक ढंग से हो सकेगी। स्वभाविक था कि जब दूसरे दिन खबर छपी तो खबर यही थी कि एनसीईआरटी की छठी कक्षा की नई पाठ्यपुस्तकों में सानिया मिर्जा। ये खबर छपते ही मेरे पास एनडीटीवी वाले आ गए, सीएनबीसी वाले आ गए और यह खबर छपते ही भाजपा वाले भी सक्रिय हो गए। उन्होंने कहा कि देखिए साहब ये रोल मॉडल के रूप में सानिया मिर्जा को लगा रहे हैं, इनकी पाठ्यपुस्तकों में शिवाजी और महाराणा प्रताप का कहीं अता-पता नहीं है। अंतत: हुआ यह कि नेशनल मॉनिटरिंग कमेटी की जब बैठक हुई, इन चीजों की वजह से नहीं कुछ ठोस शिक्षाशास्त्रीय वजहों से, तो यह तय किया कि सानिया मिर्जा के इस साक्षात्कार को यहां लगाने की जरूरत नहीं है। कारण ठोस थे और मैं सहमत था । मेरी अपनी सिफारिश को नेशनल मॉनिटरिंग कमेटी ने अस्वीकार किया और मुझे उस अस्वीकृति से बिल्कुल सहमति थी और उसे छोड़ दिया गया। मैं कहना यह चाहता हूं कि हिन्दी की ये जो नई पाठ्यपुस्तकें बन रही हैं, अच्छी या बुरी या जो पिछली पाठ्यपुस्तकों को समीक्षा करते हुए। मेरे संयोजकत्व में बनी एक कमेटी ने कुछ सिफारिशें की थीं या टिप्पणियां की थीं, आप देखेंगे कि इन पर जो बहस होती है या चर्चा होती है वो बड़े कुछ पूर्व-निर्धारित तरीके से होती है।

कार्लो गिंजबर्ग एक बड़े इतिहासकार हैं इटली के। कोई दस एक साल पहले उन्होंने एक बहुत ही दिलचस्प, बहुत ही मार्मिक पुस्तक लिखी है 'दि जज एण्ड दि हिस्टोरियन' । आजकल के नौजवान मित्रों से आग्रह करूंगा कि उस पुस्तक को प्राप्त करें और पढ़ें। थोड़ी मुश्किल होगी मिलने में लेकिन मुश्किलों पर फतह पाना नौजवानों का काम होना चाहिए। उस पुस्तक 'दि जज एण्ड दि हिस्टोरियन' में कार्लो गिंजबर्ग ने एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर हमारा ध्यान खींचा है। कार्लो गिंजबर्ग ने कहा कि इतिहास या संसार का कोई भी अनुशासन हो, उस पर होने वाली बहस आमतौर से पूर्व-निर्धारित संहिता (प्री-डिटरमाइंड कोड) के अंतर्गत होती है। और कई बार वो बहस जो पूर्व-निर्धारित संहिता के अन्तर्गत चल रही है उसमें बहुत मौलिक बातें करने वाले या ऐसा समझने वाले कि बहुत मौलिक बातें कर रहे हैं या बहुत क्रान्तिकारी पोजिशन लेने वाले भी अन्तत: सारी बातचीत उस पूर्व-निर्धारित संहिता के अन्तर्गत ही करते पाए जाते हैं। इसलिए समस्या पोजिशन्स की उतनी नहीं है, गिंजबर्ग के अनुसार, जितनी की संहिता की नवैयत को, संहिता की प्रकृति को समझने की है । मित्रो पाठ्यपुस्तकों के संदर्भ में मुझे बात करते हुए यह बात बारम्बार लगती है कि पिछले लगभग तीस वर्षों से यह समाज पाठ्यपुस्तक के बारे में बहुत मुखर रूप से, बहुत सक्रिय रूप से बात कर रहा है। और पाठ्यपुस्तक पर होने वाली इस बहस में बात पूर्व-निर्धारित संहिता पर करने की जरूरत है, उस पर विचार करने की जरूरत है। ये उसी पूर्व-निर्धारित संहिता का एक थोडा-सा रोचक उदाहरण था लेकिन उसी पूर्व-निर्धारित संहिता के कुछ हृदयविदारक उदाहरण भी हमारे

सामने हैं और उनकी भी चर्चा हम कर सकते हैं। ये उसी का एक रोचक उदाहरण था कि ध्यानचंद की आत्मकथा का हिस्सा अगर कोई समिति सातवीं कक्षा में लगाने जा रही है या बछेन्द्री पाल की आत्मकथा का एक हिस्सा वो समिति पहले से ही नवीं कक्षा में लगा चुकी है जिसे बच्चे अगले महीने से पढ़ेंगे - ये मीडिया के लिए महत्त्वपूर्ण समाचार नहीं था। मीडिया के लिए महत्त्वपूर्ण समाचार सानिया मिर्जा का होना अथवा शिवाजी का न होना था। शिवाजी का न होना एक अलग समस्या है और वो होंगे या नहीं होंगे इस पर मैं अभी कुछ नहीं कहना चाहता, जरूर होंगे और क्यों नहीं होंगे, होने ही चाहिएं; लेकिन वहां मान्यता ये थी कि नहीं होंगे। ये अपने आप में एक रोचक बात है इस पर भी हमें कुछ सोचना चाहिए। मैं पाठ्यपुस्तकों पर होने वाली बहस के बारे में केवल एक अनुभव के रूप में कर रहा हूं ऐसा कोई अध्ययन नहीं है लेकिन मेरा ख्याल है कि मेरा अनुभव लगभग सही निकलेगा। पाठ्यपुस्तकों पर होने वाली बहस का कम से कम 70 फीसदी, इतिहास की पाठ्यपुस्तकों पर केन्द्रित होता है। इसका क्या कारण है?

इतिहास की पाठ्यपुस्तकें और साहित्य में भी ऐसे पाठ जिनका संबंध इतिहास से जाकर किसी तरह बन जाए जैसे जिन सज्जन की यह शिकायत थी कि पुरुषोत्तम की बनाई हुई पाठ्यपुस्तकों में सानिया मिर्जा हैं, शिवाजी नहीं हैं; इसका संबंध इतिहास से है। यह शिकायत दिल्ली के भाजपा नेता हर्षवर्द्धन ने एक प्रेस कॉन्फ्रेन्स में की थी कि रोल मॉडल के रूप में ये लोग सानिया मिर्जा को प्रस्तुत कर रहे हैं। शिवाजी को क्यों नहीं कर रहे हैं? ये जो मिच्यूअल एक्सक्लूजन था वो एक अलग समस्या है, उसके लिए हम अलग से बात कर सकते हैं लेकिन थोड़ा-सा इस बात पर हम ध्यान दें कि पाठ्यपुस्तकों पर होने वाली बहस क्यों अधिकांशत: इतिहास पर केन्द्रित होती है, प्रतिनिधित्व (रिप्रजेन्टेशन) पर केन्द्रित होती है। प्रतिनिधित्व की बात को थोड़ा स्पष्ट करना चाहूंगा और रोहित जी यहां बैठे हैं, राजाराम जी हैं, इन दोनों के बीच में बैठकर शिक्षा के बारे में कोई सिद्धांत गढ़ना छोटे मुंह बड़ी बात जैसी बात है, लेकिन फिर भी थोड़ी बहुत बेअदबी तो की जा सकती है। मुझे लगता है कि शायद सभी समाजों में या खासकर के हमारे समाज में या खासकर इस वक्त में पाठ्यपुस्तकें विभिन्न प्रकार के सामाजिक आत्मों के आत्म-प्रतिनिधित्व का इलाका बनती जा रही हैं। और जब मैं सामाजिक आत्म कह रहा हूं और उसका मैं बहुवचन में प्रयोग करूंगा। सामाजिक आत्म ! मैं केवल धार्मिक, सांस्कृतिक, जातीय या लिंगपरक आत्मों या अस्मिताओं की बात नहीं कर रहा। नई-नई अस्मिताएं नए-नए आत्म अपनी-अपनी मर्जी से अपनी-अपनी सहूलियत से गढ़े जा रहे हैं और पाठ्यपुस्तकों में हमारा प्रतिनिधित्व जैसा हम चाहते हैं वैसा ठीक से हो यह मांग बाकायदा एक वैध प्रजातान्त्रिक मांग की शक्ल अख्तियार करती जा रही है। मैं इसके दो उदाहरण आपके सामने देना चाहूंगा। जब हम हिन्दी की उस समय की प्रचलित पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा कर रहे थे, ये कमेटी सितम्बर 04 में बनी थी और हम लोगों ने इसकी रिपोर्ट अप्रैल 2005 में प्रस्तुत की, तो जाहिर ही है कि अखबारों में छपा ही था कि इस तरह की एक कमेटी बनी है जो सभी पाठ्यपुस्तकों की त्वरित समीक्षा करेगी और उसमें हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा करने की समिति के अध्यक्ष फलां साहब हैं। तो बहुत से लोगों ने हमसे कुछ बातें कीं। हमें सूचना दी कि देखिए साहब इसमें इन चीजों की समीक्षा होनी चाहिए, उन चीजों की समीक्षा होनी चाहिए। चूंकि औपचारिक और सरकारी काम था तो बहुत सारे मांग पत्र हमें प्राप्त होने ही थे, हुए भी। उनमें जो सबसे मजेदार मांग पत्र मुझे लगा और जिस पर मैं कुछ सिद्धांत गढ़ने के मन में हूं वो मेडिकल ऐसोसिएशन का था। आठवीं या नवीं की कक्षा में एक पाठ था और अभी भी है क्योंकि हमने उसको हटाने से इंकार कर दिया। वो पाठ एक व्यंग्य लेख के रूप में है। उस पाठ में लेखक को जुकाम हो जाता है और उस जुकाम के चक्कर में जो डॉक्टर लोग हैं उसकी पचास तरह की जांच करा देते हैं, हजारों रुपये की दवा उसे खिला देते हैं। और बाद में उसको मालूम पड़ता है कि वैसे सही तरीका यह था कि दो रात आराम से सो लेते और तुलसी का काढ़ा पी लेते तो ये जुकाम दो दिन में, तीन दिन में ठीक हो जाता या कुछ न भी करते तो सात दिन में ठीक हो जाता। कुल मिलाकर यह पाठ बड़े मजेदार ढंग से लिखा गया। डॉक्टरों का कहना यह था कि इस पाठ के कारण डॉक्टरों की छवि धूमिल होती है, और सारे के सारा मेडिकल प्रोफेशन इस पाठ के कारण उपहास एवं तिरस्कार का विषय बनता है। इसलिए इसे अविलंब हटाया जाए। चूंकि मामला डॉक्टरों का था मित्रो, क्योंकि डॉक्टर अभी तक केवल एक प्रोफेशनल इकाई थे इसलिए हम यह साहस कर सके कि इस मांग पत्र को नकार दें। आप सब शिक्षा से जुड़े लोग बैठे हैं ईमानदारी से बताइए कि वही मांग पत्र यदि जैन सभा, ब्राह्मण सभा, हिन्दू सभा, दलित सभा, अंजुमने इस्लाम की ओर से आया होता तो क्या मेरी कमेटी इतनी

आसानी से इंकार कर सकती थी ? नहीं कर सकती थी। करती तो कमेटी का अस्तित्व संकट में पड़ जाता, मेरी चेयरमेनी खतरे में पड़ जाती। क्योंकि हमने यह मान लिया है, हमने यह स्वीकार कर लिया है कि पाठ्यपुस्तकों में आत्म-प्रतिनिधित्व होना चाहिए और यहां हम एक गंभीर समस्या की ओर जाते हैं। एडवर्ड सईद का जिक्र अभी राजाराम जी कर रहे थे। एडवर्ड सईद के निबंधों का जो अंतिम संकलन है 'रिफ्लेक्शंस ऑन एग्जाइल' उसमें एक निबंध में एडवर्ड सईद ने बहुत मार्मिक बात इस प्रसंग में लिखी है, एडवर्ड सईद ने लिखा है कि, 'इस समय संसार भर के जो सांस्कृतिक समूह हैं या जो अस्मिताएं हैं उनमें आप देखेंगे कि कुछ स्व-नियुक्त प्रतिनिधि (सेल्फ अपांइटेड रिप्रेजेंटेटिव) हैं। जो अपने आपको भी और दूसरों को भी मूलरूप से और सदा सर्वदा के लिए परिभाषित कर देना चाहते हैं।' और चूंकि हम इस अस्मिता के प्रतिनिधि हैं और हम यह चाहते हैं कि इस अस्मिता का उचित प्रतिनिधित्व मीडिया में हो, पाठ्यपुस्तकों में हो, हर जगह हो; इसलिए हमें कोई पाठ अटपटा लगता है, अगर हमारी छवि 'दूषित' होती है तो आपको इसे हटाना पड़ेगा और हटाना पड़ता है। क्योंकि आजकल हम पाठ्यपुस्तकों के बारे में ठोस शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर बात नहीं करते। हम पाठ्यपुस्तकों के बारे में, इस विषय का जो पहला शब्द है, उसकी दृष्टि से, बच्चों की दृष्टि से, बात नहीं करते । मेरी जानकारी में पाठ्यपुस्तकों को लेकर आज तक कोई ऐसा विवाद नहीं है जिसमें किसी पाठ को इसलिए अनुचित माना गया हो कि इससे बच्चे ऊबेंगे। और खासकर जिस विषय से मेरा संबंध है उस पर तो मैंने पूरा एक लेख ही लिखा था और वो जनसत्ता में छपा था जिसका शीर्षक था 'हिन्दी की किताब इतनी बोरिंग क्यों है पापा'। ये मेरी बेटी का सवाल था जो मैंने लिखकर शीर्षक बना दिया था। हिन्दी की किताब उठाते ही उसका चेहरा रुआंसा हो जाता था और चीखने लगती थी, मुझे लगा कि चूंकि थोड़े से 'उस तरह' के स्कूल में पढ़ती है तो हो सकता है कुछ इसके परिवेश में हिन्दी के प्रति उपेक्षा और अवेहलना हो, तो मैंने एक दिन उसे बहुत जोर से डांटा, वो बेचारी रोती हुई मेरे पास आई कि अच्छा तुम खुद ये किताब पढ़कर देखो अगर तुम बोर नहीं होओ तो मेरा नाम बदल देना। भारी बोरिंग किताब थी सचमुच। और मैं उम्मीद करता हूं और अपने आप को सफल मानूंगा कि ये जो किताबें अब लगने जा रही हैं इनके बारे में बच्चे अब जो भी कहें लेकिन बोरिंग नहीं कहें, पाठ्यपुस्तकों के बारे में ये तो कोई सोचता नहीं। बात है पाठ्यपुस्तक में हमारी भावनाएं आहत न हों, हमारा उचित प्रतिनिधित्व हो। और यह समस्या मित्रो केवल इस देश की नहीं, यह समस्या संसार में शायद सभी जगहों की हो, मैं नहीं जानता लेकिन बहुत रोचक बात यह है कि अस्मिता विमर्श (आइडेन्टिटि डिस्कोर्स), प्रतिनिधित्व विमर्श (रिप्रजेन्टेशन डिस्कोर्स) और इससे उत्पन्न होने वाली जो मांगें हैं उनकी जो एक प्रजातांत्रिक ताकत है, रोचक बात यह है कि उसके नतीजे अब अमेरिका में भी दिख रहे हैं, जो विविधता और इन सब तरह के नामों से अपने आप को बेच रहे हैं। मुझे नहीं पता कि आपमें से कितने मित्रों की जानकारी में ये नवीनतम, दुखद, रोचक और मनोरंजक; मैं चारों विशेषणों का जानबूझ कर प्रयोग कर रहा हूं- कैलिफोर्निया में पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा के लिए कमीशन बनता है, हर छठे या दसवें साल। इस बार जो कमीशन बना पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा के लिए उसमें जो इतिहास से संबंधित किताबें थीं उनकी समीक्षा करने का काम जिस कमेटी को दिया गया उसके चेयरमेन माइकल विट्ज़ थे। जो हार्वर्ड में भारतीय इतिहास पढ़ाते हैं और बहुत सम्मानित विद्वान हैं। उन्होंने जो सिफारिशें कीं और उनके आधार पर जो फेरबदल कैलिफोर्निया की उन पाठ्यपुस्तकों में किए गए उस पर वहां हंगामा हो गया और अमेरिका के हिन्दू संगठन हैं उन फेरबदलों को वापस करवाने में फिलहाल कामयाब हो गए हैं। तर्क उनका बिल्कुल सही था कि, इन पुस्तकों में यहूदियों के बारे में जो कुछ 'ऊटपटांग' बातें लिखी गईं थीं वो सारी की सारी यहूदी संगठनों के आग्रह पर हटा दी गई हैं तो अमेरिका या कैलिफोर्निया की सरकार हिन्दुओं के साथ सौतेला व्यवहार कैसे कर सकती है ? यानी यहूदी धर्म के बारे में कैलिफोर्निया की पाठ्यपुस्तकों में क्या पढ़ाया जाए इसका फैसला यदि यहूदी धर्माचार्य कर सकते हैं तो हिन्दू धर्म के बारे में कैलिफोर्निया में क्या पढ़ाया जाएगा इसका फैसला हिन्दू धर्माचार्य क्यों नहीं करेंगे। तर्कत: इस बात का खण्ड़न असंभव है। या तो आप यह कहें कि न तो वो फैसला यहूदी धर्माचार्य करेंगे और न ही ये फैसला आप करेंगे। लेकिन किसी एक प्रसंग में यदि फैसला कोई धर्माचार्य या यहूदी धर्म के प्रतिनिधि करते हैं तो फिर हिन्दुओं के प्रतिनिधि और धर्माचार्य भी फैसला करेंगे कि क्या पढ़ाया जाए और क्या नहीं।

इसलिए मित्रो मैंने कहा कि सौभाग्य से डॉक्टरों का अभी तक कोई अलग से धर्म या सेक्ट नहीं बना है। डॉक्टर अधिक से अधिक केवल एक व्यावसायिक अस्मिता (प्रोफेशनल आइडेन्टिटि) हैं। अगर डॉक्टर एक सांस्कृतिक

अस्मिता होते तो फिर वो पाठ उस किताब में नहीं रह सकता था, यह मैं जानता हूं। पाठ्यपुस्तकों के प्रसंग में जब हम इतने पाठ्यपुस्तक केन्द्रित समाज में रह रहे हैं और अपने बच्चों को पढ़ा रहे हैं तो मुझे लगता है कि थोड़ा-सा विचार हमें करना चाहिए कि, पाठ्यपुस्तकों पर होने वाली बहस को हम लोग, हम जनवादी लोग, हम शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन के इच्छुक लोग; हम पाठ्यपुस्तकों के विवाद को, पाठ्यपुस्तकों की बहस को, रोजमर्रा की और तात्कालिक राजनीति से ऊपर, अलग किसी और ज्यादा सार्थक संदर्भ में स्थापित कर सकते हैं या नहीं ? मेरे लिए महत्त्वपूर्ण सवाल ये है ? जब इस कमेटी का गठन हुआ था जिसकी मैंने आपसे अभी चर्चा की तो उस कमेटी का मुझे अध्यक्ष बनाया गया। उसके पहले ही संयोग से मैंने एक टिप्पणी जनसत्ता में लिखी थी और जिसमें मैंने थोड़ी-सी चुटकी इस बात पर ली थी कि जो उस समय की कक्षा आठ की किताब थी भारती- 3 उसमें जगमोहन सिंह राजपूत का लिखा हुआ एक निबन्ध 'तिरंगे' के बारे में था। आप लोग जानते हैं राजपूत उस समय एनसीईआरटी के निदेशक थे । तो मैंने इस पर थोड़ी-सी चुटकी ली थी कि भई ये बड़ा मौलिक निबंध है। इसमें सूचनाएं बड़ी मौलिक हैं। निबंध वैसा ही था जैसा हो सकता है। राष्ट्रीय ध्वज का विकास कैसे हुआ, कब हुआ व उसका कौनसा रंग क्या प्रतिबिंबित करता है वगैरह, वगैरह। मेरा ख्याल है कि एनबीटी ने जो किताब छापी है 'नेशनल फ्लैग' उसका चरबा करके उसको छाप दिया गया था। ठीक था सूचनाएं सही थीं, उसमें ऐसा कुछ गड़बड़ नहीं था। लेकिन वो जगमोहन सिंह राजपूत का लिखा हुआ था। तो मैंने उस पर चुटकी ली की ये राजपूत जी इस निबंध के लेखक हैं और हिन्दी में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निबंधकार हैं। इसलिए उनका पाठ इसमें लगाया गया है। यह तो केवल संयोग की बात है कि वो इस समय एनसीईआरटी के निदेशक हैं। जब उस कमेटी की पहली बैठक हुई, आप ध्यान दें मित्रो, मैं इस बात को लेकर थोड़ा चिन्तित रहता हूं इसलिए आपके सामने इस बात को रख रहा हूं , मैं जिसका अध्यक्ष था; सभी सदस्यों ने एक स्वर में कहा कि इस पाठ को हटाया जाना चाहिए, मैंने कहा क्यों ? बोले आपने खुद ने बताया है कि कितना बेतुका पाठ है, मैंने कहा मैंने कहीं यह नहीं लिखा कि बेतुका पाठ है। मैंने कहा कि अब तो इस पाठ को हटाने का कोई कारण नहीं है क्योंकि राजपूत साहब डायरेक्टर नहीं रहे। मैंने कहा पाठ में मुझे कोई आपत्ति नहीं थी, उस लेख में भी मैंने कहीं नहीं लिखा है कि पाठ खराब है। पाठ लगा है निदेशक ने लिखा है तो अटपटा लगता है। यानी इस समय उस भाषा समिति के अध्यक्ष नामवर सिंह हैं उनका लिखा हुआ कोई निबंध हिंदी में लगे, मैं उस समिति का मुख्य सलाहकार हूं, मेरा लिखा हुआ कोई निबंध लगे, मैं इन मामलों में पुराने ढंग का आदमी हूं मुझे अटपटा लगता है। एनसीईआरटी एकाएक आज की तारीख में खोज करे कि कृष्ण कुमार कितना सुन्दर हिन्दी का गद्य लिखते हैं और 'अब्दुल मजीद का छुरा' को किसी पाठ्यक्रम में लगा दिया जाए या उनकी कोई कहानी लगा दी जाए, ये मुझे अटपटा लगता है और मुझे विश्वास है कि कृष्ण कुमार को भी अटपटा लगेगा और कहीं नहीं लगने देंगे वो ऐसी चीजें। समिति के सभी सदस्य इस बात पर तुल गए कि उस निबंध को हटाया जाए। एक सदस्य ने तो जो असली कारण हटाने का हो सकता था वो भी कहा जो राजपूत जी की राजनीति से संबंधित था। मेरे मन में ये सवाल उठा मित्रो और मेरे मन में ये आज भी है कि क्या अगर राजपूत के निबंध को इस कारण हटाया जाना चाहिए ? बिना इस बात की परवाह किए कि उस निबंध में दी गई बातें सही हैं या गलत जो कि सही हैं, ये मैं पुन: कहना चाहता हूं, उस निबंध में कोई गलत सूचना नहीं दी गई है। क्योंकि जब यह बहस आगे बढ़ी और यहां तक स्थिति आ गई कि कुछ लोगों ने कहा कि उसमें भगवा का महिमा मंडन किया गया है। गलत उद्धरण दिए गए हैं, उसमें कहा गया है कि जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि भगवा प्यार और बलिदान का रंग है। ऐसा नेहरू जी भला कैसे कह सकते थे ? मैंने मित्रों से कहा कि नेहरू जी बहुत कुछ कह सकते थे। इसी प्रकार तुलसीदास भी बहुत कुछ कह सकते थे। नेहरू और तुलसी दास और कबीर दास और टैगोर सबकी समस्या यह थी कि उन्हें नहीं पता था कि उन्हें आपकी सुविधा से क्या कहना चाहिए। वो अपने हिसाब से कहते थे इसलिए नेहरू जी भी कह सकते थे। बोले नहीं-नहीं ऐसा नहीं हो सकता। मुझे अपने दो-तीन विद्यार्थियों को बकायदा रिसर्च पर लगाना पड़ा और रिसर्च करके उन्होंने खोज-खाज कर चीजें निकालीं। नेहरू मेमोरियल से मॉर्डन रिव्यू के 1909 के अंक खोजे गए। पट्टाभि सीतारमैया समिति की रिपोर्ट और उस पर कराची कांग्रेस पर हुई *बहस के* अंश खोजे गए। उन सब को मैंने मित्रों के सामने रखा और कहा कि अब इस निबंध को हटाने का केवल एक आधार बचता है और उस आधार पर यह निबंध नहीं हटेगा। कोई और आधार आप खोज कर ले आएं तो हटाया जा सकता है। मित्रो, मैं कहना यह चाहता हूं कि हम पाठ्यपुस्तकों के बारे में जब बात करते हैं, चाहे इतिहास

की पाठ्यपुस्तकें हों या हिन्दी की, मैं केवल हिन्दी के बारे में थोड़ी ठीक-ठाक ढंग से बात कर सकता हूं, थोड़ी बहुत इतिहास के बारे में भी क्योंकि इतिहास में मेरी दिलचस्पी है। **कहीं न कहीं हम पाठ्यपुस्तकों के बारे में बात करते समय उसी पूर्व-निर्धारित संहिता के शिकार हो जाते हैं जिसका हमें विरोध करना चाहिए।** हम पाठ्यपुस्तकों पर मूलभूत सामाजिक संरचनाओं के संदर्भ में और उस अर्थ में उससे जुड़ी राजनीति के संदर्भ में नहीं बल्कि शुद्ध दलगत राजनीति के संदर्भ में बात करने लगे हैं। हम भी यह लगातार अपने आप से पूछें, मैं यह नहीं कह रहा हूं कि हम ऐसा नहीं करते हैं, लेकिन लगातार हम अपने आपसे पूछें कि कहीं हम भी तो दलगत राजनीति के संदर्भ में पाठ्यपुस्तकों के बारे में बात नहीं करने लगे हैं। यानी भगवाकरण के उपयुक्त प्रतिवाद की विधि क्या पाठ्यपुस्तकों का लालकरण करना होगी? मेरा सीधा-सा सवाल यह है।

क्या जिसे हम बुरी और खतरनाक विचारधारा मानते हैं उससे बच्चों को मुक्त करने का तरीका हमारी अपनी पंसदीदा विचारधारा को पाठ्यपुस्तकों के जरिए बच्चों तक पहुंचाना होगा या पाठ्यपुस्तकों की भूमिका बच्चों के जीवन में कुछ अन्य प्रकार की भी हो सकती है ? ये एक सवाल मेरे मन में उठता है। बच्चों के कोण से अगर देखें, मेरी बेटी का जो सवाल था हिन्दी की किताब इतनी बोरिंग क्यों है पापा। क्यों बोरिंग लगती हैं बच्चों को हिन्दी की किताबें? या इसी प्रकार कोई भी किताब ? उस किताब में जो मेरी बेटी को बोरिंग लगती थी एक चिट्ठी है, दिल्ली का एक बच्चा तमिलनाडु घूमने गया है और लौटकर अपने किसी मित्र को पत्र लिखकर बता रहा है कि तमिलनाडु में उसने क्या-क्या देखा ? 'तमिलनाडु की यात्रा' उस पाठ का शीर्षक था। एक तो उस लहजे में, उस ज़ुबान में कोई हिन्दी भाषी कभी चिट्ठी नहीं लिखता। हिन्दी में सचमुच लिखी जाने वाली कोई चिट्ठी उस अन्दाज में शुरू नहीं होती, उस तरह की भाषा में नहीं होती। दूसरे, एक मित्र के नाम लिखे गए उस पत्र के रूप में रखे गए पाठ में आप तमिलनाडु के हर महत्त्वपूर्ण नगर, मन्दिर, तमिलनाडु के सारे हैण्डीक्राफ्ट, तमिलनाडु की सारी संस्कृति, तमिलनाडु के इतिहास के सारे महत्त्वपूर्ण साहित्य उपक्रम; एक बारह-तेरह साल का बच्चा क्या-क्या झेलेगा? 19 पेज में चलने वाला पाठ था वह। मुझे कोई अगर 19 पेज की चिट्ठी लिखे तो मैं तो फाड़कर फेंक दूं उसे। इसी तरह छठी क्लास में एक पाठ था, और ये मैं इसलिए नहीं कह रहा हूं कि एक खास तरह का निजाम उस समय एनसीईआरटी में था, इस गलतफहमी में कोई नहीं रहे। जो किताबें हम बना रहे हैं उसमें भी ऐसे हा-हुल्लड आपको मिल जाएंगे, ऐसा मुझे पूरा विश्वास है। क्योंकि सारी किताबें मैं अकेला नहीं बना रहा हूं। सभी तरह के मत होते हैं संत समाज में, सभी तरह की राय होती हैं और सभी को संभालते हुए काम करना होता है। खासतौर पर एक समस्या हिन्दी भाषा की पुस्तकों के बारे में जिसपर मैं बच्चों की दृष्टि से बात करना चाहता हूं, अन्य विषयों के बारे में मैं नहीं जानता बहुत ज्यादा; जो मित्र जानते हों वो मुझे बताएंगे, जब मैं खुद बच्चा था और हिन्दी पढ़ता था तब से लेकर अब तक मेरी यह धारणा अबाध चली आई है और दुर्भाग्य से इसके बदलने के कोई कारण नहीं बने, **मुझे यह लगातार लगता रहा है कि हिंदी की कक्षा में घुसते ही हर बच्चा चरित्रहीन हो जाता है। क्योंकि पाठ्यपुस्तक की सारी चिंता उसका चरित्र निर्माण करने की है।** आप हिन्दी की कोई भी पाठ्यपुस्तक, मित्रो पुन: मेरी यह चुनौती है, कश्मीर से कन्याकुमारी तक; सिन्धु से आसिन्धु तक आप हिन्दी की कोई पाठ्यपुस्तक, किसी प्रांत की, किसी जगह की, किसी सरकार की, किसी पार्टी की बनवाई हुई देख लीजिए, आपको मेरी इस बात में दम नजर आने लगेगा। जैसे ही बच्चा हिन्दी की कक्षा में जाता है या स्कूलों में, जैसे ही हिन्दी का शिक्षक कक्षा में आता है एकदम से बच्चे के चरित्र का संकट उत्पन्न हो जाता है। छठी कक्षा में आप एक पाठ के जरिए बच्चे को शिष्टाचार सिखा रहे हैं। वह पाठ हमने हटा दिया। हमने कहा कि ऐसे पाठ के जरिए बच्चे शिष्टाचार सीखें इससे बेहतर है कि अशिष्ट रहें। कैसे बड़ों के आने पर खड़े हो जाना चाहिए, कैसे कितना झुककर के प्रणाम करना चाहिए, गुरुजी की हर बात माननी चाहिए आदि-आदि। कभी-कभी मुझे लगता है कि ये जो श्रवणकुमार मॉडल हम अपने बच्चों के सामने पेश करते हैं, इसमें कहीं न कहीं हम अध्यापकों के निहित स्वार्थ हैं और बच्चों की दृष्टि से ऐसी किताब तो निश्चित रूप से बोरिंग हो ही जाएगी। मैं इन उदाहरणों के माध्यम से केवल यह कहना चाहता हूं कि जब आप बच्चों की दृष्टि से किताब को देखेंगे तो मुझे लगता है कि फिर पाठ्यपुस्तक पर होने वाली बहस थोड़ी बदल जाएगी। हमारे यहां पाठ्यपुस्तकों पर जो बहस अभी हो रही है और जो आमतौर से होती है, मैं शिक्षाशास्त्री नहीं हूं, मैं नहीं जानता कि शिक्षा के अकेडमिक जर्नल्स में बहस किस तरह की होती है, जरूर अलग तरह की होती होगी; लेकिन पॉपुलर मीडिया में जो बहस होती

है, अखबारों में, टेलीविजन पर उसको आप देखें किस तरह की बहस होती है। मेरा ख्याल है कि मेरे इन अवलोकनों से आप सहमत होंगे कि उसमें बहस के दो बिन्दु होते हैं। एक तो सही प्रतिनिधित्व का, 'हमारी' पहचान का, कि क्या पाठ्यपुस्तकें हमारे अतीत को सही ढंग से प्रस्तुत करती हैं , पाठ्यपुस्तक मेरी सांस्कृतिक पहचान के अतीत और वर्तमान का सही प्रतिनिधित्व करती हैं या नहीं। यह पहली चिन्ता है। और दूसरी चिन्ता यह है कि पाठ्यपुस्तक बच्चे को उचित रूप से अनुशासित बनाती हैं या नहीं। मुझे लगता है कि ये दोनों ही चिन्ताएं प्रगतिशील और बहुलतावादी समाज के निर्माण में बाधक चिन्ताएं हैं। ये उसकी सहायक चिन्ताएं नहीं हैं।

जैसा पहले मैंने आप लोगों से निवेदन किया कि प्राचीन शिक्षा पद्धति के बरक्स आज की पद्धति शिक्षक केन्द्रित न होकर पाठ्यपुस्तक केन्द्रित है। स्वाभाविक है कि उस पर बहस हो, बहुत गंभीर बहस हो। पाठ्यपुस्तक इस लिहाज से महत्त्वपूर्ण है जैसी व्यवस्था में हम हैं उसमें पाठ्यपुस्तक की केन्द्रीयता तो है। **सवाल यह है कि पाठ्यपुस्तक के जरिए जो हमारा राजनैतिक सामाजीकरण (पॉलिटिकल सोशलाइजेशन) होता है, हमारा जो सामाजीकरण होता है, राष्ट्र की जो कल्पना हमें मिलती है, देश की जो कल्पना हमें मिलती है, समाज की जो कल्पना हमें मिलती है, उस सब पर बहस होनी चाहिए, होती भी है।** समाज के विभिन्न लोगों का उसमें प्रतिनिधित्व हो, समाज के विभिन्न तबकों की उसमें बराबरी और सम्मान के साथ उपस्थिति हो, अजूबापन उनमें न हो; बिल्कुल सही बात है यह। हर समाज का, हर परम्परा का, हर संस्कृति का बच्चा या बच्ची पाठ्यपुस्तक के साथ एक अपनापन महसूस कर सके, ये चिन्ताएं हैं, बिल्कुल वाजिब चिन्ताएं हैं। इन्हीं के साथ, इन चिन्ताओं के साथ, इन चिन्ताओं के विपरीत या इन चिन्ताओं के बदले के तौर पर नहीं बल्कि इन्हीं चिन्ताओं के साथ क्या हम पाठ्यपुस्तकों में रोचकता की, और खासकर भाषा की पाठ्यपुस्तकों में व्यंजकता की, बहुलता की, बहुल संभावनाओं की, जो बच्चे को बहुस्तरीय जुड़ाव (एंगेजमेंट) के लिए तैयार करे और उसको चुनौती दे, क्या हम इसकी कल्पना नहीं कर सकते ? मैं पुन: अगर हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों की ओर लौटूं, अगर हिन्दी में इस तरह की पाठ्यपुस्तक की ओर हम दो कदम भी बढ़ सकें तो मुझे लगता है कि हिन्दी पाठ्यपुस्तकों के प्रसंग में यह बहुत क्रान्तिकारी कदम होगा। **हिन्दी की पाठ्यपुस्तक के प्रसंग में बहुत बड़ा काम हो जाएगा अगर पाठ्यपुस्तक बनाने वाले और बच्चों को पढ़ाने वाले ये मान लें कि हिन्दी की पाठ्यपुस्तक खोलते ही बच्चे का चरित्र खतरे में नहीं पड़ जाता और उसको चरित्र निर्माण की चिन्ता वहां नहीं करनी चाहिए, अगर यह हम समझ लें तो मुझे लगता है कि काफी चीजें बदल सकती हैं।** मैं एक उदाहरण देना चाहता हूं - जाहिर है बहुत सीधी-सीधी शब्दावली में कहा जाए तो बच्चा स्कूल में सीखने आता है, या आती है, सीखना चाहिए उसे। अच्छे गुण सीखने चाहिएं, बिल्कुल पुरानी शब्दावली में कहें तो सद्‌गुण सीखने चाहिएं ; बिल्कुल सही बात है, नैतिक मूल्य सीखने चाहिएं। लेकिन वो किस तरह सीखने चाहिएं ? सवाल के जरिए या उपदेश के जरिए? असली सवाल यह है।

अभी जो दिल्ली राज्य की पुस्तकें बनाई गईं थीं, दो-तीन साल पहले, उनमें एक पाठ था किसी पुस्तक में आठवीं या सातवीं कक्षा में और मुझे लगता है कि वो बहुत सारी चीजों के हिसाब से मॉडल पाठ मुझे लगता है। महेश्वर दयाल नाम के एक सज्जन थे। हिन्दी के साहित्यिक बिरादरी के लोग उनसे लगभग नावाकिफ हैं, महेश्वर दयाल दिल्ली के पुराने निवासी थे, पुराने बड़े व्यापारिक परिवार के व्यक्ति थे और दिल्ली को बहुत प्रेम करते थे और उन्होंने एक सीरीज लिखी थी लेखों की 'दिल्ली मेरी दिल्ली'। और जो बाद में एक किताब के रूप में उन्होंने छपवाई 'आलम में इन्तखाब'। बहुत सुन्दर किताब दिल्ली के बारे में, दिल्ली की परंपरा और दिल्ली की तवारीख के बारे में है । दिल्ली के नेचर के बारे में ऐसी किताब मैंने दूसरी नहीं देखी। और इतने बढ़िया ढंग से अपने शहर पर लिखी गई ऐसी कोई दूसरी किताब मैंने देखी ही नहीं सच बात तो यह है। उस किताब का एक हिस्सा इस पाठ्यपुस्तक में इन लोगों ने शामिल किया। और वो किस्सा था दिल्ली में अखाड़ों और कुश्ती की परंपरा के बारे में कि कितने अखाड़े थे, कैसे अखाड़े थे, अखाड़ों में क्या होता था, अखाड़ों में जो टेक्नीकल टर्म्स थे वो क्या थे, खलीफा किसको कहते थे, गुलाबी साफे का क्या अर्थ था, गुड़ की भेली अगर आप किसी के सामने ले जाएं तो इसका क्या मतलब होता था। बहुत सुन्दर ढंग से अखाड़ों की पूरी संस्कृति के बारे में वो पाठ बताता है। पाठ समाप्त होता है इस एक घटना की सूचना के साथ कि 1947 में दिल्ली में एक बड़ा भारी दंगल हुआ और उसमें मुख्य अतिथि के रूप में गांधी जी को निमन्त्रित किया गया। गांधी जी

दंगल में पहुंच गए मुख्य अतिथि बनकर। जो पहलवान थे वो अखाड़े में उतरने लगे, जोर करने के लिए तो उसके पहले जाहिर है कि वो गांधीजी के पांव छूने आए, पांव छूने जब आए तो गांधीजी ने उन पहलवानों से कहा कि क्यों भई मुझसे पंजा लड़ाओगे ? तो पहलवान ने जो उत्तर दिया मित्रो, लिखते हैं महेश्वर दयाल जी कि, पहलवान हाथ जोड़कर बोला कि बापू जी आपकी बहादुरी और ताकत के क्या कहने, आपने इतनी बड़ी ब्रितानवी सल्तनत को हिला दिया, मेरी भला क्या औकात है कि आप से पंजा लड़ाऊं। पाठ यहां समाप्त हो जाता है। और जो अभ्यास हैं वो कहीं यह नहीं पूछते कि इस पाठ से शारीरिक बल से नैतिक बल अधिक बड़ा होता है यह शिक्षा आपको मिली या नहीं। क्योंकि बच्चे की कल्पना पर भरोसा ये पाठ करता है, पढ़ते-पढ़ते मुझे कुछ होने लगा और मैं मानकर चलता हूं कि जब 12-13 साल की लड़की या लड़का इस पाठ को पढ़ेगा और इस हिस्से को पढ़ेगा तो उसे भी कुछ होगा। क्योंकि वह भी यह जानता है कि अगर वो पहलवान सचमुच शाब्दिक अर्थ में गांधी जी से पंजा लड़ा लेता तो गांधी जी का क्या होता। वो भी जानते हैं इस बात को। लेकिन पहलवान का यह कहना कि आपकी बहादुरी और ताकत के क्या कहने, आपने इतनी बड़ी हुकूमत को हिला दिया, मेरी क्या औकात है कि मैं आप से पंजा लड़ाऊं। उपदेश से बहुत ज्यादा मूल्यवान है यह व्यंजकता। मुझे लगता है कि मित्रो ये व्यंजकता एक गंभीर चिन्तन का विषय हमारे लिए होना चाहिए।

इतिहास की पाठ्यपुस्तकें चूंकि उन पर भी हमेशा बहस होती है मैंने आपसे कहा और उस बहस का भी संदर्भ वही है - आत्म का प्रतिनिधित्व और यहां तो उस आत्म की परिभाषा का भी सवाल है। वो आत्म एक तरह का आत्म है जिसका संघर्ष पिछले एक हजार साल से चल रहा है। और यह ध्यान रखिए जैसा मैंने आपसे कहा कि इसका संबंध केवल शासक दल से नहीं है, आज से करीब-करीब पन्द्रह-सोलह साल पहले एनसीईआरटी की भूगोल की जो किताब थी या राजनीति विज्ञान की, जिसके संपादक रशीदुद्दीन खां थे, स्वर्गीय रशीदुद्दीन खां। किताब के एक पाठ का पहला वाक्य था 'हम भारतवासी पिछले 1000 सालों से गुलाम चले आ रहे हैं'। यह पहला वाक्य था उस पाठ का। आत्म के प्रतिनिधित्व का सवाल है, कौनसा आत्म है ? और आत्म के प्रतिनिधित्व में बच्चे की अपनी जिज्ञासाएं पाठ्यपुस्तक में आने योग्य गंभीर नहीं मानी जातीं। जैसे मैं दुर्भाग्य से बच्चा नहीं हूं लेकिन फिर भी, यह सवाल मेरे मन में, जब मैं दिल्ली पहुंचा पहली बार और गाड़ी से उतरा तो ऑटो वाले ने मुझसे पूछा कि पहाड़गंज की तरफ जाना है या कनॉटप्लेस की तरफ। कनॉटप्लेस तो मुझे पता था कि कनॉटप्लेस का क्या मतलब है। मेरे मन में यह सवाल था और आज तक है कि पहाड़गंज को पहाड़गंज क्यों कहते हैं ? मेरे मन में ये सवाल आज तक है कि दरियागंज को दरियागंज क्यों कहते हैं ? शाहजहां के जमाने की दिल्ली का मैं वर्णन पढ़ता हूं तो मालूम पड़ता है कि लाल किले से लेकर फतेहपुरी तक एक नहर जाती थी। जिसके किनारों पर छायादार पेड़ लगे हुए थे। यह सवाल मेरे मन में है कि वो नहर कहां और कैसे गायब हो गई ? दिल्ली के इतिहास पर लिखी जाने वाली किसी किताब में यह सवाल और इन सवालों को खोजने के लिए बच्चों को प्रेरित करने का प्रयत्न कम से कम मुझे नहीं लगता। क्योंकि ये सवाल इतने बचकाने सवाल हैं कि पाठ्यपुस्तक की गंभीरता इन सवालों से दूषित हो जाती है। दरियागंज में दूर-दूर तक दरिया नहीं है। लेकिन एक जमाना था जबकि जमुना नदी एकदम उससे सटकर बहती थी। इसीलिए उसको दरियागंज कहा जाता है। ऐसा क्या हुआ पिछले डेढ़ सौ साल में कि जमुना नदी उस दरियागंज से लगभग डेढ़ किलोमीटर दूर चली गई? अगर हम पाठ्यपुस्तकें कल्पनाशील ढंग से बनाएं तो यह एक पाठ दिल्ली के औद्योगीकरण, उस औद्योगीकरण से उत्पन्न होने वाले प्रभावों, जमुना का लगातार सिकुड़ता हुआ बहाव, जमुना का जो कोसों चौडा पाट, जिसकी चर्चा की जाती थी, वो अब ले-देकर आधा किलोमीटर क्या चौथाई किलोमीटर भी नहीं रहा है। औद्योगीकरण, प्रदूषण, तमाम सारे सरोकारों जिनकी चर्चा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा-2005 भी करता है और जिनकी चर्चा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 भी करती थी। वो सारे सरोकार पाठ्यपुस्तकों में पिरोए जा सकते हैं। लेकिन इतिहास की किताबें इस तरह से सवाल नहीं पूछतीं। मुझे दु:ख तब होता है जब इस तरह के प्रयत्न होते हैं और इस तरह के प्रयत्नों की आलोचना उन लोगों से भी सुनने को मिलती है जिनसे सराहना की उम्मीद थी। इतिहास की जो नई किताबें इस समय लिखी जा रही हैं उनमें खेलों का इतिहास है, कपड़ों का इतिहास है, खान-पान का इतिहास है और उस पर अग्रणी वामपंथी इतिहासकार झल्ला रहे हैं कि ये कोई इतिहास के विषय हैं ? और ये उस देश में जिस देश में गांधी टोपी का आज भी एक निश्चित मतलब है। उस देश में जिसमें कि ऐन अभी जमाल भाई जो जैकिट पहने हुए हैं उसे आज के लोग कहें या न कहें, मेरे पिताजी उसको जवाहर

जैकिट ही कहा करते थे। क्यों इस जैकिट को जवाहर जैकिट कहा जाता है ? गांधी जी की जो अधिकांश लोकप्रिय तस्वीरें हैं उनमें तो उन्होंने कोई टोपी नहीं लगा रखी फिर भी एक खास तरह की टोपी गांधी टोपी कहलाती है। क्या इन सवालों के जरिए हमारी इतिहास की पाठ्यपुस्तकें स्वाधीनता आन्दोलन का नितान्त साधारण लोगों के जन-जीवन पर जो प्रभाव था उसकी खोज नहीं कर सकतीं ?

हरिशंकर परसाई ने एक बहुत ही मार्मिक संस्मरण अपना लिखा है - वो लिखते हैं कि हम लोग दूर-दराज के गांवों में रहते थे। जबलपुर से कोसों दूर हमारा गांव था और उस जमाने में जबलपुर से हमारे गांव पहुंचने में घंटों लग जाते थे। मैंने नोट किया, मैं बच्चा था उस समय छोटा-सा, कि मेरी मां और मेरी विधवा बुआ दोनों अपनी अच्छी-खासी रंग-बिरंगी बढ़िया साड़ियां छोड़कर मोटे गाढ़े सूत की साड़ी पहनने लगीं। मैंने पूछा उनसे कि क्या हो गया तुम लोगों को ? क्यों ये अजीब-अजीब सी साड़ी पहनती हो; मोटी-मोटी जिसे पहनने से चमड़ी छिल जाती है तुम्हारी। परसाई जी लिखते हैं कि उन्होंने जवाब दिया कि भई हमें नहीं पता। पर सुना है कि ऐसे कपड़े पहनो तो गांधी जी को अच्छा लगता है। ये जो विचित्र प्रकार का संस्मरण है, स्वाधीनता आंदोलन और उसकी चेतना का, मध्यप्रदेश के दूर-दराज गांव में दो औरतें ! गांधी जी को क्या अच्छा लगता है इससे उनकी पहनाव की आदत प्रभावित हो रही है। क्या ये इतिहास के लिए जायज सवाल नहीं है ? परसाई जी का यह संस्मरण केवल साहित्य ही क्यों, मैं व्यक्तिगत रूप से यह महसूस करता हूं, रोहित जी जैसे विशेषज्ञ की मैं राय जानना चाहूंगा, यह संस्मरण इतिहास की किसी पाठ्यपुस्तक का हिस्सा क्यों नहीं हो सकता ? इसके आधार पर, इसको टेक्स्ट मान कर इसके आस-पास आप सवालों का एक ऐसा संजाल क्यों नहीं रच सकते जिससे बच्चा 1920-21 के पॉपुलर सेन्टीमेन्ट को कुछ प्राप्त कर सके। मुझे लगता है कि यह सब हो सकता है बशर्ते हम बच्चे, पाठ्यपुस्तक और कक्षा में मौजूद शिक्षक के संबंध को थोड़ा अलग तरह से देखने की आदत डालें। अभी की स्थिति यह है और अभी जिस तरह हम शिक्षा को लेते हैं उससे मुझे शिक्षा शब्द का मराठी अर्थ बहुत ही प्रासंगिक लगने लगता है। 'शिक्षा' मराठी में दण्ड को कहते हैं या थोड़ी प्रताड़ना के साथ दी गई सीख को। पिछले दिनों गृहमंत्री शिवराज पाटिल ने किसी प्रसंग में लोकसभा में कहा था कि इस विषय में जो भी लोग अपराधी पाए जाएंगे उनको शिक्षा दी जाएगी। तो उत्तर प्रदेश के एक सांसद उचक कर खड़े हो गए, वो हड़बड़ा गए कि अपराधियों को शिक्षा दी जाएगी, मैंने बकायदा ये देखा टेलीविजन पर, वो सांसद महोदय उचक कर खड़े हो गए और बोले कि आपका काम दंड देना है; तो फिर किसी दूसरे ने उन्हें समझाया कि वो भी यही कह रहे हैं। मराठी में शिक्षा का यह आशय होता है। मुझे लगता है कि जिस तरह से अभी हम अपनी शिक्षा को ले रहे हैं खासकर के जो हमारी पाठ्यपुस्तक की संस्कृति है और पाठ्यपुस्तक की संस्कृति ही नहीं बल्कि पाठ्यपुस्तक पर बहस की जो संस्कृति है क्योंकि जो लोग पाठ्यपुस्तक बना रहे हैं वो अपनी, मैं यह मानकर चलता हूं मित्रो, मैं हर व्यक्ति की सज्जनता, हर व्यक्ति की भलमनसाहत पर विश्वास करके चलता हूं, मैं यह मानकर चलता हूं कि वह अपनी ओर से श्रेष्ठतम पाठ्यपुस्तक बनाने का प्रयास कर रहा है या कर रही है। सवाल यह है कि उस पर जो विमर्श मैं कर रहा हूं, जो बहस मैं कर रहा हूं, जो आलोचना मैं कर रहा हूं, वो किस तरह की है, वो उसी पूर्व-निर्धारित संहिता का हिस्सा है जिसमें कि वो पाठ्यपुस्तकें बनाई जा रही हैं या वो उस संहिता से बाहर जाने की कोशिश है। असली सवाल यह है। जिस तरह की पाठ्यपुस्तक या जिस तरह के माहौल से हम लोग गुजरते हैं, इसलिए मैंने आपसे कहा कि, मुझे सचमुच लगता है कि जैसे शिक्षा का मराठी अर्थ यहां बहुत प्रासंगिक है। यह एक तरह से दण्ड ही है। और उसका कारण मुझको लगता है मित्रो कि हमारे सामने नेरेटिव से लेकर नेशन्स तक नेशन्स से लेकर अस्मिता तक के प्रोजेक्ट्स हैं, प्रतिनिधित्व हैं, हमारा सही प्रतिनिधित्व हो। हम जाट हैं इसलिए महाराजा सूरजमल के बारे में खबरदार जो ऊटपटांग लिखा। हम सिक्ख हैं इसलिए खबरदार कि आपने फलाने के बारे में कुछ लिखा। हम जैन हैं इसलिए आपको मानना पड़ेगा कि ऋषभदेव ऐतिहासिक थे और लिखना पड़ेगा कि ऋषभदेव पहले तीर्थंकर थे और सतयुग के आरंभ में हुए थे और सतयुग आज से नौ करोड़ साल पहले था। और सरकार मानेगी इस बात को। आज नहीं मानेगी तो कल मानेगी। तो शिक्षा और पाठ्यपुस्तक, मुझे लगता है कि दिगन्तर जैसी संस्थाओं और जो दिगन्तर के साथ जुड़े साथी हैं वो यह महत्त्वपूर्ण शुरुआत कर सकते हैं कि पाठ्यपुस्तक पर होने वाली बहस की रूपरेखा बदली जाए। बच्चे को, जिसका हमें राजनैतिक सामाजीकरण करना है, जिसे हमें सिखाना है, जिसे हमें कुछ बुनियादी मानवतावादी एवं प्रजातान्त्रिक मूल्य देने हैं, निश्चित ही देने हैं। लेकिन किस तरह देने हैं, किन

माध्यमों से देने हैं और उसमें टेक्स्ट की क्या भूमिका है और इस सारी प्रक्रिया में जिसके ऊपर हम जिम्मेवारी छोड़ते हैं टेक्स्ट पहुंचाने की - यानी अध्यापक उसकी क्या भूमिका है ?

मित्रो मैं एक तरह के अपराधबोध के साथ यह कहना चाहता हूं और इसके लिए मैं अपने मित्र कृष्ण कुमार जी का आजीवन आभारी रहूंगा। एनसीईआरटी के साथ जुड़ने के पहले, मैं पूरी ईमानदारी से आपसे यह कहना चाहता हूं कि, मुझे हिन्दुस्तान के स्कूली अध्यापक की हालत का सचमुच अंदाज नहीं था। हम क्या-क्या उम्मीद करते हैं हिन्दुस्तान के स्कूली अध्यापक से। चुनाव होता है हमारे यहां सर्कुलर आता है, जेएनयू में, कि साहब जो प्रोफेसर लोग चुनाव करवाना चाहें उनका स्वागत है, मैं तो आज तक कभी नहीं गया। और वाइस चांसलर कुछ नहीं कर सकता मेरा, अगर मैं चुनाव करवाने नहीं जाऊं। स्कूल का कोई अध्यापक मना कर सकता है चुनाव करवाने से? जनगणना होगी तो अध्यापक करवाएगा, मतदाता पहचान पत्र बनेगा तो अध्यापक बनाएगा। पोलियो की दवा पिलानी होगी तो अध्यापक पिलाएगा। पीर, बाबर्ची, भिश्ती, खर की भूमिका में आपने स्कूल के अध्यापक को पहुंचा दिया। और उसके बाद आप उससे उम्मीद करते हैं कि वो नवाचारात्मक प्रश्न विधियां उत्पन्न करे और उनसे जुड़े सवाल पूछे! उस बेचारे का खुद का जीवन ही एक प्रश्न में बदला जा रहा है, और उसके बाद आप उससे चाह रहे हैं कि वह प्रश्न विधि में नवाचार करे और प्रश्न पूछे!

एक बात और कह कर खत्म करूंगा। जाहिर है किसी भी समाज में पाठ्यपुस्तक पर बहस एक तरह से सहमति के टूटने का भी प्रमाण है। जब सहमति टूटती है तब पाठ्यपुस्तक पर बहस शुरू होती है। और आठवें दशक में यह सहमति हमारे यहां टूटी। हमारी पाठ्यपुस्तकों में जो एक अन्तर्निहित मान्यता रही है कि जो कुछ परंपरा में है, जो कुछ उपलब्ध है आपके आस-पास, भाषा से लेकर ज्ञान तक वो संदिग्ध है, वो गड़बड़ है। शिक्षा जो है वो आप स्थानीय परिवेश के एक तरह से खिलाफ खड़ी है। मुझे आज तक अपनी वो उलझन याद है मित्रो, मैं छठी क्लास में था या सातवीं में, मध्यप्रदेश में एक पुस्तक चलती थी सामाजिक अध्ययन। बाद में इतिहास, नागरिक शास्त्र और भूगोल अलग-अलग हो गए। फिर बीच में सुना कि एक हो गए, फिर अब सुना है कि अलग होने जा रहे हैं। तो उस समय एक ही हुआ करती थी सामाजिक अध्ययन। उसमें राजा राममोहन राय के बारे में एक पाठ था 3-4 पेज का। उस 3-4 पेज के पाठ के अंत में राजा राममोहन राय की मुख्य शिक्षाएं थीं। मुख्य शिक्षाओं में पहली थी, जो मुझे आज तक शब्दश: याद है, ईश्वर एक है। दूसरी थी मूर्ति पूजा पाप है। अगर मैं इस शिक्षा को शब्दश: ग्रहण करूं तो मेरा सारा परिवार पापी था। मेरा सारा परिवेश पापी था। मेरे मास्साब पापी थे। जो हनुमानजी के मंदिर में मत्था टेक कर स्कूल आया करते थे। मुझे घर पर पढ़ाने आने वाले जो ट्यूटर थे वाजपेयी जी वो भी पापी थे। आप इतने स्मूथ ढंग से इतने आत्म-विश्वासी ढंग से घोषित कर रहे हैं और आप इस बात को महसूस तक नहीं कर रहे हैं। ये 1967 की बात है, गनीमत है कि अब ऐसी स्थितियां नहीं हैं। अब बच्चे के प्रति कुछ संवेदनशीलता बढ़ी है और बढ़नी चाहिए। मैं कभी-कभी सोचता हूं उस 10-11 साल के बच्चे के बारे में, व्यवस्था ने कभी सोचा कि इस सपाट बयान के जरिए मेरे मन में कितना नैतिक और मानसिक संकट पैदा हुआ होगा। एक तरफ आप मुझसे चाहते हैं कि मैं पाठ्यपुस्तक पर विश्वास करूं, क्योंकि वो नवोदित राष्ट्र के द्वारा दिया जा रहा ज्ञान है। और वो ज्ञान मुझे बता रहा है कि मूर्ति पूजा पाप है। यानी वो ज्ञान मूर्तिपूजा और अस्पृश्यता को एक श्रेणी में रखता है। वो राष्ट्र मुझे यह तो समझा सकता है कि यह अस्पृश्यता क्यों पाप है और समझाना चाहिए उसे, लेकिन उसे यह समझाने की क्या जरूरत पड़ी है कि मूर्तिपूजा पाप है।

ये सारे सवाल, और ये केवल उन सवालों में से कुछ कुछ नमूने हैं जो मुझे लगातार परेशान करते रहे हैं। और पिछले साल-डेढ़ साल से मैं इनसे ज्यादा व्यावहारिक और प्रत्यक्ष रूप से जूझता रहा हूं। मुझे लगता है कि ये सारे सवाल कहीं न कहीं इस बात की ओर संकेत करते हैं कि पाठ्यपुस्तकों की केन्द्रीयता के बावजूद पाठ्यपुस्तकों पर होने वाला जो विमर्श है वो कहीं, उसमें कहीं कुछ गायब है। **वो विमर्श पाठ्यपुस्तकों का प्रतिमान पूर्व-निर्धारित संहिता को, नेरेटिव्स को इन सबको मानता है, माने कोई हर्ज नहीं है लेकिन कम से कम बच्चे की अपनी तरक्की, उसके अपने नैतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से पाठ्यपुस्तक को यदि हम देखना चाहें तो हमें पाठ्यपुस्तक पर विभिन्न प्रकार के प्रतिनिधित्व के दबाव, और पाठ्यपुस्तक के साथ इस कारण होने**

वाले प्रयोगों और कई बार जिनमें से प्रयोग तमाशेनुमा होते हैं उनके बारे में सोचना पड़ेगा। और उसके साथ-साथ हमें यह भी सोचना पड़ेगा कि पाठ्यपुस्तक की भूमिका, पाठ्यपुस्तक की महत्ता की बहस के इन दिनों में हम अध्यापक और शिक्षक पर कोई बात कब करना शुरू करेंगे। बहुत महत्त्वपूर्ण सवाल है यह ! नागार्जुन की एक कविता है, जिसमें एक बस ड्राइवर ने ड्राइवर सीट के आगे अपनी बेटी की प्लास्टिक की चूड़ियां बांध रखी हैं और बस चलती है और चूड़ियां हिलती हैं। उसको अपनी बेटी की याद आती है और वो बस में बैठे यात्री से बात करता है, इस कविता के वाचक से, कि मेरी बेटी कैसी है वगैरह-वगैरह। मैं उन दिनों दिल्ली यूनिवर्सिटी के रामजस कॉलेज में पढ़ाता था। ये कविता बी.ए. के पहले साल के पाठ्यक्रम में लगी हुई थी। मेरे एक सहकर्मी इस कविता को पढ़ाया करते थे और वे जिस तरह से इस कविता को पढ़ाते थे और उसकी जो रिपोर्ट मुझे बच्चों से प्राप्त होती थी। मैं कभी-कभी धन्यवाद दिया करता था भगवान को कि बाबा नागार्जुन को उनसे कभी इस कविता की व्याख्या सुनने का मौका नहीं मिला। बल्कि कविता के किसी भी संवेदनशील पाठक को ! ''क्या है इस कविता में, न छन्द है न रस है न अलंकार हैं। कुछ चूड़ियां लटकी हुई हैं। वो देख रहा है उनको और देख के उसे अपनी बेटी याद आ रही है। और उस पर देखो ये सवाल बनेंगे।'' नागार्जुन तपस्वी चेतना के जनकवि हैं। इसलिए मैंने यह चुनौती दी थी और यह चुनौती जब मैंने पहली बार एक अन्य सेमीनार में दी थी तो मित्रों को बहुत अटपटा लगा था। मैं एक बार चुनौती दोहराता हूं -आप श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कवि लाकर अभी मेरे सामने पेश कर दीजिए मैं उसकी कविता की संवेदना की हत्या करके अभी आपको दिखा सकता हूं। इसलिए पाठ्यपुस्तकों पर होने वाली कोई भी बहस तब तक अधूरी है जब तक कि हम पाठ्यपुस्तकों के साथ, उन पाठों के साथ, उन्हें बच्चों तक पहुंचाने वाले, बच्चों के अनुभव और संवेदना तंत्र में उनकी जगह बनाने वाले अध्यापकों के बारे में बात नहीं करते। और उन पाठों को हम किस तरह के सवालों के प्रसंग में पेश करते हैं, किस तरह की गतिविधियों के प्रसंग में पेश करते हैं; जब तक हम इस पर बात नहीं करते हैं, पाठ्यपुस्तकों पर होने वाली बहस में मित्रो दुर्भाग्य से बड़े सवाल यही बने रहेंगे कि सानिया मिर्जा पाठ्यपुस्तक में है या नहीं है। जो कि मेरे हिसाब से एक पाठ्यपुस्तक के लिए बहुत ही अप्रासंगिक सवाल है। इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ेगा। मॉनिटरिंग कमेटी की बैठक के बाद मेरे पास एक टेलीफोन आया किसी पत्रकार मित्र का। बोले कि अब आप यह बताइए कि मॉनिटरिंग कमेटी की मीटिंग के बाद आपकी पाठ्यपुस्तकों में एक्साइटिंग क्या-क्या रह गया है। बहुत दिलचस्प सवाल है । तो मैंने उनसे कहा कि यह बड़ा मुश्किल सवाल है। बहरहाल फिर मैंने उनसे कहा कि मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि आपके सवाल का जवाब कैसे दूं। आपके लिए एक्साइटिंग का मतलब क्या है ? नहीं-नहीं वो तो आप भी समझ रहे हैं, आप बताइए कि एक्साइटिंग क्या-क्या रह गया है? तो मैंने उनसे कहा कि मैं आपको बहुत ही प्रसन्नता के साथ यह दुखद सूचना दे रहा हूं कि जैसा एक्साइटिंग आप खोज रहे हैं अब ऐसा कुछ नहीं रह गया है और इसलिए मुझे उम्मीद है कि पाठ्यपुस्तक कुछ ठीक-ठाक बन जाएंगी। अब आप इसमें कुछ एक्साइटिंग खोज लें जब अप्रैल में शुरू हों या आप लोगों के अपने सूचना सूत्र हैं ही, मुझे कुछ बताने की जरूरत नहीं, आप पता लगा लें। एक एक्साइटिंग ये था कि हमारी कमेटी में किसी सज्जन ने सुझाव दिया कि ए. आर. रहमान पर पाठ लगा देना चाहिए। दूसरे मित्र ने चिंता प्रकट की कि भई देखो फिल्मकार है। इन लोगों का मामला बड़ा गड़बड़ रहता है, कहीं इन्कम टैक्स रेड वगैरह हुई तो अपन क्या करेंगे और दुर्भाग्य से वो हो गया। तो ए. आर. रहमान पाठ्यपुस्तकों में आने से रह गए। अगर वो होते तो वो भी एक एक्साइटिंग चीज होती। पाठ्यपुस्तक में सवाल किस तरह पूछे जा रहे हैं ? हिन्दी का व्याकरण किस तरह पढ़ाने की कोशिश की जा रही है ? हिन्दी साहित्य का इतिहास किस तरह पढ़ाने की कोशिश की जा रही है ? हिन्दी की जो बनावट हम अपने पाठों में क्योंकि आखिरकार हम अपनी ओर से पाठ लिखकर तो नहीं रख सकते। जो पाठ उपलब्ध हैं जो हिन्दी के लेखकों ने या पत्रकारों ने लिखे हैं या विद्वानों ने लिखे हैं उन्हीं को हम रख सकते हैं। उनमें से हम क्या चयन कर रहे हैं। इस पर कोई बहस नहीं हो रही है। मुझे लगता है कि जब तक हम अपनी ओर से, दिगन्तर जैसी संस्थाएं और हमारे आपके जैसे लोग जो शिक्षा को केवल पनिशमेंट नहीं बल्कि शिक्षण भी मानते हैं, डिस्कोर्स के टर्म्स को बदलने का प्रयत्न नहीं करेंगे तब तक ये बहस इसी रूप में चलती रहेगी और पाठ्यपुस्तकें बच्चे के प्रजातान्त्रिक सामाजीकरण की बजाए अस्मिताओं के प्रतिनिधित्व का अखाड़ा बनी रहेंगी। मुझे चिन्ता इस बात की है। धन्यवाद ! ◆

45, दक्षिणापुरम्,

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली - 67